सर्वोदय की दिशा में

प्रकाशक :
युगान्तर-प्रकाशन-मंदिर लि०,
जयपुर।

प्रथम संस्करण सन् १९४९ ई०
मूल्य १) रु०

मुख्य विक्रेता :
वाणी-मन्दिर,
चौड़ा रास्ता, जयपुर।

मुद्रक :
युगान्तर-प्रेस,
जयपुर।

अपनी बात

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्त और आचरण सम्बन्धी आदेश थोडे बहुत अन्तर से पतंजली के योग-दर्शन से लेकर कुरान मजीद तक प्राय सभी धर्मग्रन्थों मे पाये जाते है। गांधीजी ने जब हिन्दुस्तान मे आश्रम-जीवन की कल्पना की तब सत्याग्रह आश्रम की नियमावली मे सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, खुदमेहनत, स्वदेशी, अभय, अस्पृश्यता-निवारण और सहिष्णुता ये ११ व्रत आश्रम वासियों के लिये सतत आचरण के हेतु से शामिल किये। इसके बाद जब बापू यरवदा जेल मे थे तब उन्होंने इनका और विवेचन किया और वे पत्र 'यरवदा मन्दिर से' तथा 'मगल प्रभात' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। श्री विनोबा द्वारा इन व्रतों का श्लोक-बद्ध उल्लेख फिर आश्रम भजनावली में शामिल हो गया और आज लाखों व्यक्तियों की जबान पर है'—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन ।
सर्वधर्मसमानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना
ही एकादश सेवावी नम्रत्वे दृढ़निश्चये ॥

मुझे गांधीजी के जीवन, उनके चिन्तन तथा प्रयोग और उनकी सभावनाओं के अध्ययन से ऐसा लगा कि ये व्रत केवल व्यक्ति की दृष्टि से ही जीवन-निष्ठा और आचरण के मूल-तत्वों का प्रतिपादन नहीं करते बल्कि सामाजिक दृष्टि से समाज के छोटे से छोटे रूप-परिवार से लेकर सभावित विश्वराज्य और समाज तक की आदर्श जीवन-निष्ठा और आचरण निर्देश भी इनसे प्रकट होता है, अर्थात् सत्य पर आश्रित और अहिंसा द्वारा संचालित नई समाज-रचना का दिग्दर्शन भी इन सिद्धान्तों के सामाजिक रूप में होता है।

मैंने इन १२ लेखों मे इन सिद्धान्तों के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पहलुओं की संक्षेप में चर्चा की है। मुझे गांधीजी के जीवन में सबसे बड़ी विशेषता यह लगी कि उन्होंने इन सिद्धान्तों का जो आज तक व्यक्तिगत प्रयोग के क्षेत्र माने जाते थे सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक पैमाने पर उपयोग किया और यही अहिंसक समाज रचना का मूलाधार है।

ये लेख साप्ताहिक लोकवाणी में अग्रलेख के रूप में ता० १७ अप्रेल १९४८ से ३ जुलाई १९४८ तक प्रकाशित हुए थे,

अब ये पुस्तकाकार प्रकाशित होकर अधिक व्यापक क्षेत्र तक पहुँच सकेंगे।

एक बात और। गाधीजी ने अहिंसा आदि ११ व्रतों का विवेचन किया है लेकिन श्री विनोबा के श्लोक में इन व्रतों के आचरण मे नम्रता और दृढ़ता का भी उल्लेख है. मुझे सिद्धान्त की दृष्टि से और आचरण की दृष्टि से भी, सयुक्त रूप में दोनों गुण व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों क्षेत्रों मे उपर्युक्त व्रतों के निर्वाह में बडे उपयोगी लगे, इसलिये एक अलग लेख मे इन्हें मैंने सयुक्त रूप मे शामिल कर दिया है। मालूम नहीं यह नई बात विचारक गुरुजनों तथा मित्रों को कहाँ तक पसन्द आवेगी।

राजस्थान मे सर्वोदयविचारधारा के प्रमुख चिन्तक आदरणीय "दा" साहब श्री हरिभाऊजी उपाध्याय ने दो शब्द लिखकर मुझे प्रोत्साहन दिया है। श्री "दा" साहब तो मातृवत् स्नेह से सदा देते ही रहे हैं, तब मैं उन्हें धन्यवाद देने की भी धृष्टता कैसे करूँ? मैं चाहता हूँ कि गुरुजनों का मार्गदर्शन मुझे सदा ही मिलता रहे।

गांधी जयन्ती, १९५६ जवाहिरलाल जैन

दो शब्द

"सर्वोदय" के आदर्श मे व्यक्ति व समाज के चरम उत्कर्ष, पूर्ण विकास या पूर्णता की कल्पना की गई है, अकेले व्यक्ति के उत्कर्ष या उदय पर जोर देते हैं, तो व्यक्तियों के संघर्ष को निमन्त्रण देते है, जिससे समाज चकनाचूर हो जायगा, अकेले समाज के उदय की बात सोचते है तो व्यक्ति का उदय दबता है, जिससे अन्त मे समाज भी पगु होकर रह जायगा, एक देश के व्यक्ति या समाज के उदय की कल्पना करते है तो दूसरे देश के व्यक्ति या समाज से टकराते है, जिसमे दोनों का अहित है, यही बात एक जाति के उदय पर भी घटती है, इन सकुचित या सीमित आदर्शो मे होने वाली हानि को अनुभव करके उससे बचने व सारे मानव समाज को पूर्णता की ओर ले जाने की दृष्टि से सर्वोदय का जन्म हुआ है। आदर्श तो हमने अच्छा ऊँचा बना लिया है, परन्तु वह लोगों की समझ मे आना चाहिये, उसका मार्ग उन्हें निश्चित व स्पष्ट दिखाई देना चाहिये, उस पर चलने का उन्हें बल व प्रोत्साहन मिलना चाहिये, यह सब न हो तो कोरा आदर्श बेकार रहेगा। इनमें सबसे पहली बात है आदर्श का समझ लेना, समझ मे आ जाना, आज के अनेक आदर्शों व वादों के इस बुद्धि प्रधान युग में यह और भी आवश्यक हो गया है। सर्वोदय के प्रणेता खुद

गांधीजी ने, सर्वोदय के पुरस्कर्ता विनोबाजी ने इस आदर्श को समझाने का प्रयास किया ही है, इसके पोषक सिद्धान्तों वा व्रतों का बहुत कुछ विवेचन किया है, गांधीजी ने तो उसका एक परिपूर्णसा अनेकांगी कार्यक्रम रचनात्मक कार्यक्रम भी बना दिया है।

मुझे बड़ी खुशी है कि हमारे राजस्थान में भी इस आदर्श व इन व्रतों का सैद्धान्तिक, युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य विवेचन श्री जवाहरलाल जैन, लोकवाणी (जयपुर) के सपादक, ने किया है। ये सब लेख स्वतन्त्र ढंग से लिखे गये हैं, इनकी युक्तियों मे नवीनता व प्रतिपादन शैली में तर्कयुक्तता है। लेखक कोरी हवा मे नहीं उडा है। प्रत्येक निबन्ध सैद्धान्तिक या दार्शनिक भित्ति पर खडा है। उसमे आधुनिक मस्तिष्क को सतोष देने, तृप्त करने का प्रयत्न किया है। इन विशेषताओं के कारण मुझे विश्वास है कि, राजस्थान की ही नहीं, सारी हिन्दी भाषी जनता इन लेखों की कदर करेगा, इनसे लाभ उठाकर "सर्वोदय" के मर्म और महत्व को समझने का प्रयत्न करेगी। क्या अच्छा हो, लेखक इसी तरह रचनात्मक कार्यक्रम के विभिन्न अगों पर भी लेख लिखकर हमारे जिज्ञासु भाई-बहिनों की मन-बुद्धि को अच्छा भोजन देने के श्रेय का भागी बने।

गांधी आश्रम,
हटूडी अजमेर

हरिभाऊ उपाध्याय.

अनुक्रमणिका

अहिंसा

आज इस दुनियाँ मे मानव व्यवस्थित समाज के रूप मे जीवन यापन कर रहा है। वह स्वय अपने आप में पूर्ण एक इकाई है और समाज का एक अविभाज्य अङ्ग भी। जहाँ एक ओर वह व्यक्ति के रूप में ऊँचे से ऊँचा उठ सकता है और नीचे से नीचा गिर सकता है, वहाँ दूसरी ओर वह अपने समय और समाज की मर्यादा से भी सीमित है और औसतन वह अपने आप को उससे अलग नहीं करता। इसी व्यक्ति और समाज के द्वैत पर मानवीय सम्बन्धों का सचालन होता है।

दूसरा बड़ा तथ्य हमें यह मानना होगा कि मानव अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बुद्धिधारी है और वाणी की विशेषता के फलस्वरूप अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकने के कारण वह धीरे २ अधिकाधिक उन्नति करता गया है। इसी बुद्धि के कारण वह अपने पूर्वजों और अपने

ही समय के अन्य मानवों के अनुभव से लाभ उठाता रहा है तथा उनकी गल्तियों और नुकसानों से बचने की उसने कोशिश की है।

मानव बुद्धि और सामाजिकता की प्रवृत्ति के कारण ही प्रगतिशील रहा और वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों क्षेत्रों में आगे बढ़ता गया। इस आगे बढ़ने में संघर्ष और सहयोग दोनों ही उसके सहायक हुए तथा हिंसा और अहिंसा दोनों से उसने काम लिया या उसे इन दोनों से काम लेना पड़ा, किन्तु वास्तव में मानव की व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति का इतिहास अहिंसा और प्रेम के ही क्रमागत विकास का इतिहास है, वह पशुता तथा हिंसा से धीरे २ हटते जाने और मानवता अर्थात् अहिंसा की ओर धीरे धीरे बढ़ते जाने का भी इतिहास है।

मानव पुराने जमाने में आपस के व्यक्तिगत सम्बन्धों के मामले में समाज के हस्तक्षेप को सहन करने को प्रायः तैयार नहीं था और आज भी बहुत सी अर्द्धविकसित जातियाँ संसार में इस दशा में हैं जो किसी कानून और बाहरी सत्ता को नहीं मानतीं, लेकिन अधिकांश दुनियाँ ने अपने व्यक्तिगत झगड़ों को शान्तिपूर्वक सुलझा देने का भार राष्ट्र पर छोड़ दिया है और पुलिस तथा कानून इसकी व्यवस्था करते हैं, इसी प्रकार राष्ट्रों के आपसी मामलों को भी अन्तर्रा-

धर्मीय संगठनों और अदालतों पर छोड़ने की ओर बढ़ा जा रहा है। यह दूसरी बात है कि इसमें अभी तक सफलता नहीं मिली है, लेकिन यह कोई नहीं मानेगा कि हम इस दिशा में बढ़े नहीं है। मानव का सुख अवश्य ही इस दिशा में है।

इसी प्रकार अपने रहन-सहन, खाने-पीने आदि सभी बातों में मानव हिंसा से अहिंसा की ओर ही चल रहा है। नरमांस भक्षण से आरम्भ कर हरे फलों और दूध तक से परहेज करना एक बड़ी लम्बी कहानी है। इसी तरह चमड़ा पहनने से लेकर ऊनी और सूती वस्त्र तक प्रगति एक विशेष अर्थ की सूचक है। सौ-सौ, दो-दो सौ के आपस में सदा लड़ते-भिड़ते रहने वाले समाजों से करोड़ों मानवों के राष्ट्र और विश्व-राज्य की कल्पना इसी अहिंसा भावना की प्रगति है। इस प्रकार हम मानव के इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से इस नतीजे पर ही पहुँचते है कि मानव बराबर हिंसा से अहिंसा की तरफ बढ़ा है।

इसके अतिरिक्त विश्व के इतिहास में जो महान् और विख्यात व्यक्ति हुए हैं उन्होंने सभी ने बिना अपवाद के अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर यही कहा है और यही व्यवहार किया है कि हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है, यही मानव को उन्नति की ओर अग्रसर करने वाली है। उन्होंने जहाँ हिंसा को अनिच्छापूर्वक अपनाया है वहां भी उन्होंने केवल वही हिंसा

को सीमित और मर्यादित कर अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए ही ऐसा किया है। इसके अलावा यह भी हमें मानना ही पड़ेगा कि पशुता का नाश पशुता से या हिंसा से नहीं हो सकता, जैसे हम आग से आग नहीं बुझा सकते, तलवार से तलवार का शमन नहीं किया जा सकता, बल्कि आग के लिए पानी की और तलवार के लिए ढाल की जरूरत पड़ेगी, इसी प्रकार पशुता के लिए मानवता, हिंसा के लिए अहिंसा, फरेब के लिए ईमानदारी ही चाहिये। मानव और समाज दोनों के विकास और प्रगति के लिए भी सहयोग और प्रेम की ही आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि मानव और समाज के इतिहास के दृष्टिकोण से, उनके विकास के दृष्टिकोण से, उनके स्वभाव और आदर्श के दृष्टिकोण से अहिसा ही एक मात्र जीवन का तरीका और साधन रहा है, रहना चाहिये और रह सकता है, अन्य कुछ तरीका वाजिब है ही नहीं। यह सही है कि मानव और समाज दोनों मे पशुता का जोर रहा है। जरा यह असावधान रहे कि इनमें पशुता फौरन जोर पकड लेती है, और अभी तक मानव और समाज दोनों ही पशुता के आगे बहुत ज्यादा बलवान साबित नहीं हुए हैं, किन्तु वे बार २ हार कर, गिर कर, थक कर फिर बढ़े अहिसा की ओर ही है, अब तक चलते आए उसी ओर हैं, समझदार मानव चल सकता उस ओर ही है।

ऐसी परिस्थिति में जो मानव सूझबूझ रखते हैं, जो मानव व्यक्ति और समाज की कमियों और गुणों की जानकारी रखते हैं, जो मानव अपनी बुद्धि में विश्वास करते हैं और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को काबू में रखना चाहते हैं तथा रख सकते हैं, उनके लिए एक ही मार्ग है और वह है समझ-बूझ कर, बलपूर्वक, विश्वासपूर्वक अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लक्ष्य या लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए केवल अहिंसा को ही साधन बनाना। व्यक्तियों के साथ समाज भी धीरे २ अहिंसा के साधनों पर ही चलने लगेगा और वही व्यक्ति और समाज की सच्ची, वास्तविक और आदर्श स्थिति होगी। इसके विपरीत जो स्थिति है वह झूठी है, अवास्तविक है और अवांछनीय है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज की दुनिया की परिस्थितियों में जब हिंसा और पशुता प्रबल हो रही हैं, वह पूर्ण अहिंसा और मानवता की स्थिति कब और कैसे आ सकती है? यह प्रश्न एक प्रकार से तो निरर्थक ही है, क्योंकि वह स्थिति कभी आवे या कभी नहीं भी आवे, और चाहे एक व्यक्ति ही इसका व्यवहारी हो, फिर भी जो सही है, वाजिब है, आदर्शरूप है, वही प्रशंसनीय है और प्राप्य है, वही करने योग्य है अन्य कुछ नहीं। दूसरी दृष्टि से जब हम मानते हैं कि यह स्थिति सही है तो सिवाय इसके कि

एक २ व्यक्ति भी जो इसे मानता हो इस पर चले हिंसा और पशुता की प्रबलता को दूर करने का अन्य उपाय भी क्या है ? एक २ व्यक्ति से ही समूह बनता है, समाज बनता है, विश्व बनता है। तीसरे चूंकि, अधिक लोग पशुता मे प्रवृत्त हैं, वही तो मानवता और अहिंसा की ओर झुकने का सबसे बड़ा कारण है, सबसे बड़ी प्रेरणा है, सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबुद्ध मानव के लिए अहिंसा और प्रेम के अतिरिक्त और कोई मार्ग अपने जीवन के रथ को चलाने का है ही नहीं और उसी मार्ग पर उसे निर्भयता पूर्वक छोड़ देना चाहिये। आगे जो हो सो हो। इसमें भी सन्देह नहीं कि इसके फलस्वरूप आगे जो होने वाला है, वह मानव और समाज दोनों के लिए शुभ और मंगलमय ही होगा अन्य कुछ नही हो सकता।

सत्य

जो गतिशील है, परिवर्तनशील है, प्रत्येक क्षण बदलता जाता है वही जगत है। संसार के सभी पदार्थ कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। मानव जन्म लेता है, बढ़ता है, बूढ़ा होता है, मर जाता है। यही दशा सारे प्राणियों की है। यही परिवर्तनशील स्थिति जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं उनकी भी है।

लेकिन दुनियाँ परिवर्तनशील होकर, गतिशील होकर भी कायम है, मौजूद है। संसार का कोई तत्व नष्ट नहीं होता। केवल उनके सम्मिश्रण और अवस्थाओं में बदलाव होता है। मानव भी—अन्य प्राणी भी मरकर भी नहीं मरते अपनी संतति के रूप में अमर हो जाते हैं, मानव जाति तो बढ़ती ही जाती है। और फिर समस्त विश्व की कल्पना में—इस पृथ्वी के अति-रिक्त हजारों, लाखों, करोड़ों, असंख्य दुनियाओं के रूप में

जब आदमी सोचता है, करीब १॥। लाख मील प्रतिसैकेंड चलने वाला प्रकाश जहाँ से,पृथ्वी के आरभ से, चलकर अब तक आकर नहीं पहुँचा है, तो आदमी खो जाता है, सब कुछ भूल जाता है।

इस सारी गतिशीलता का, परिवर्तन का–इस विराट् जगत् का मूल आधार क्या, धुरी क्या, केन्द्र क्या ? स्वाभाविक तौर पर जिस तरह कुम्हार के चक्र को घूमते देखकर कुम्हार की ओर ध्यान जाता है–इसी तरह मानव ने भी इस विश्व का आधार ईश्वर को माना जो इस गतिशीलता के अन्तर्गत 'सत्' और सनातन है।

लेकिन दूसरे दृष्टिकोण से मानव स्वयं ही 'सत्' और 'सनातन' है, क्योंकि जो कुछ है उसका केन्द्र इस पृथ्वी के निवासी मानवों को 'मानव' ही प्रतीत होता है, किन्तु इस मानव का बाहरी रूप प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अनित्य है। इस अनित्यता, गतिशीलता के मूल में कोई शक्ति है जो स्थायी है, जो इस परिवर्तनशीलता के अन्तर्गत होकर भी इससे परे है, वह सूक्ष्म मानव है, आत्मा है। वह 'सत्' और सनातन है।

ईश्वर और आत्मा दोनों सत् और सनातन हैं, लेकिन हमारे इन्द्रिय-ज्ञान से स्पष्टरूप से परे हैं। वे फूल की गन्ध से भी सूक्ष्म हैं। अगर कोई चाहे तो ईश्वर और आत्मा से इन्कार भी कर सकता है और उसका इन्कार ही इकरार से ज्यादा स्वाभाविक लग सकता है, अगर केवल स्थूल रूप से ही देखा जाय।

लेकिन फिर भी किसी नियम के अनुसार हमारे चारों ओर का ससार चलता तो है ही, उस नियम समूह को आप नियम नाम दे लीजिये, प्रकृति कह लीजिये, अपने आप होता है यह मान लीजिये। उसे आप ईश्वर नाम न देना चाहें मत दीजिये, और कोई नाम देना चाहें वह दे लीजिये, कोई भी नाम न देना चाहें तो न भी दीजिये।

इसी प्रकार मानव इस ससार में अपने शरीर से अलग किसी न किसी शक्ति की सहायता से चलता है। वह एक विरासत दूसरों से प्राप्त करता है और अपनी विरासत दूसरों के लिये छोड जाता है। एकाकी मानव इतना बलवान है कि दुनियाँ को हिला देता है और इतना निरीह है कि वह दूसरे मानवों की सहायता के बिना बिल्कुल पगु है। मानव आता है और जाता है, लेकिन समाज शाश्वत है। व्यक्ति की सक्षमता यदि आत्मा को मानने के लिये हमें आगे बढाती है तो उसकी निरीहता हमें समाज को मानने और उसे पूजने को उत्साहित करती है। इस प्रकार 'समाज' शब्द में भी उस सूक्ष्म मानवातीत भावना का समावेश हो जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आज तक मानव ने अपने स्थूल अस्तित्व से परे तीन सूक्ष्म, सत् तथा सना-तन तत्वों की स्थापना की है, और चाहे मानव इन को

माने, तीन को माने, लेकिन किसी न किसी सूक्ष्म तत्व को उसे मानना ही पड़ता है—इस स्थूल मानव शरीर से परे जो तत्त्व है वही सत् है, वही शाश्वत है। गांधीजी के शब्दों में-सत्य यानी होना, जो वस्तु शाश्वत है वह. जो अचल सत्य है उसके बल पर जरूरी प्रवृत्तियाँ चलती है और मनुष्यों को प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार यह स्थूल मानवातीत ईश्वर, आत्मा और समाज—जिनको जो शब्द रुचे वह ले ले वही सत्य है या जैसा गांधीजी ने बार-बार कहा है सत्य ही ईश्वर है-इसका भी वही आशय है। यह महान् सत्य ही मानव का और मानवसमूह की श्रद्धा, ज्ञान और कर्म का आदर्श है। इसी से उसे अपने सारे मनोभावों को, विचारों और कार्यों को नापना है, उसी की तरफ अपनी प्रवृत्तियों को मोड़ना है।

दुनियाँ के स्थूल रूप के बजाय उसके अन्तर्हित सूक्ष्म रूप से व्याप्त शक्ति की प्रेरणा को मान कर मानव और मानव समूह आगे बढ़े। मानव की स्थूल माँग-वासनाओं और कामनाओं अर्थात् स्थूल स्वार्थ के विरोध में वह उसमें अन्तर्हित आत्मा की आवाज को सुने, उसे प्रबल बनावे, उसकी पवित्रता और महत्ता की ओर आगे बढ़े। समाज की सर्व-हितैषिणी और सार्वजनिक प्रगति की हितचिन्तना और उन्नति के मुकाबले में अपने व्यक्तिगत या छोटे वर्गगत

स्वार्थ और लाभ को छोड दे—यही सत्य का रूप है, इसके जो विपरीत है, वह असत्य है, क्योंकि वह स्थूल का, अनित्य का समर्थक है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि मानव अपने सामने जो स्थूल संसार है उसे बिल्कुल भूल कर सूक्ष्म संसार में रम जायगा। यह आशंका निर्मूल है, क्योंकि मानव कभी पूरी तरह स्थूल को भूल ही नहीं सकता। उसकी ओर वह स्वयं स्थूल रूप से प्रवृत्त रहता ही है, इसलिये वह प्रयत्न के बल पर, अभ्यास के बल पर, साधना के बल पर जितना उससे हटकर सूक्ष्म की ओर आकृष्ट होगा उतना ही सत्य की ओर आगे बढ़ेगा।

पूर्ण सत्य का साक्षात्कार शायद मानव-देह के होते हुए संभव ही नहीं है, इसीलिए वह आदर्श है। लेकिन उसकी ओर आगे बढ़ना मानव का कर्तव्य है, उसके लिए वह अनिवार्यतः आवश्यक है। इसीलिए सत्य हमारा आदर्श है और अहिंसा उस आदर्श तक पहुँचने का मार्ग लेकिन ये दोनों सूक्ष्म तत्व हैं। स्थूल देहधारी मानव न पूर्ण अहिंसा को प्राप्त कर सकता है और न पूर्ण सत्य को लेकिन सत्य की दिशा में उन्मुख मानव अहिंसा के मार्ग से ही आगे बढ़ सकता है।

अहिंसा के मार्ग से सत्य की ओर बढने वाले व्यक्ति के लिए साधन और साध्य की विभिन्नता का प्रश्न ही नहीं होता। उसके लिए तो हर एक कदम मे साधन और साध्य की अभेदता है। वह हर कदम पर सत्य की-आदर्श की झलक पाता है। अहिंसा स्वय मार्ग और मुकाम दोनों बन जाती है। सत्य का दर्शन उसे कदम-कदम पर होने लगता है। इस प्रकार पूर्ण अहिंसा और पूर्ण सत्य आपस में मिल कर एक हो जाते हैं, अभेदात्मक बन जाते हैं। लेकिन उस दिव्यस्थिति के पूर्व अहिंसा साधन है जिसे मानव को ग्रहण करना है और सत्य साध्य है, आदर्श है जिसे उसे हमेशा अपने सामने रखना है।

इन्हीं दो महान तत्त्वों के आलोक मे मानव को अपने जीवन मे चलना है। अब तक के इतिहास मे मानव गिरता, सम्हलता आगे बढता और फिसलता, लेकिन फिर आगे बढता चला आया है। विश्व के महामानवों ने इन्हीं दो तत्त्वों का दर्शन और निरूपण अपनी अपनी परिस्थितियों की मर्यादा में किया है।

इस युग ही मे महात्मा गांधी ने उसी महान् परम्परा में विचारों और व्यवहार द्वारा सत्य और अहिंसा का जो निरूपण किया है, वह युग युग के मानव का मार्गदर्शन करता रहेगा।

अस्तेय

सत्य और अहिंसा—यही दो सिद्धान्त तथा व्रत मानव का समस्त दर्शनशास्त्र और आचारशास्त्र बनने के लिए बहुत काफी है, लेकिन इन्हें विस्तृत रूप से समझाने के लिए और इनका व्यवहार अधिक सरल रूप से किया जा सके इसलिये इनकी व्याख्या के रूप में अन्य सिद्धान्तों और व्रतों का विवेचन महापुरुषों ने आरम्भ से ही किया है।

मानव अपने समाज का ही अंग है, अविभाज्य अंग है। वह इसी में जन्म लेता है, बढ़ता है। वह इसी में अधिकतम विकास कर सकता है, अपने आदर्श की ओर बढ़ सकता है। वह जो कुछ है वह अधिकांश में अपने चारों ओर के वातावरण के कारण-समाज के कारण है, उसके माता-पिता, भाई-बन्धु आदि भी सब इसीमें शामिल हैं। वह इस रूप में समाज का पुत्र है, उसका अंश है।

दूसरी ओर मानव स्वय भी एक आजाद हस्ती है और वह अपने आप मे एक पूरी इकाई है। उसमें ऊँचे से ऊँचे उठने और नीचे से नीचे गिरने की क्षमता और कमजोरी मौजूद है। अगर वह एक ओर ब्रह्मांड का एक नगण्य अश है तो वह स्वयं अपने अन्तर्गत दूसरी ओर ब्रह्मांड का ज्ञान और शक्ति भी छिपाये हुए है। जिस प्रकार अग्नि का एक स्फुलिंग संसार की अग्नि का एक छोटा सा अंश है, वैसे ही वह समस्त विश्व को भस्म कर सकने वाली शक्ति का पुज भी है।

मानव जिस प्रकार समाज का अग है, उसी प्रकार वह प्रकृति का या ईश्वर का अविभाज्य अग है। प्रकृति उसे शरीर प्रदान करती है और उसके शरीर की रक्षा करती है। हवा जल, भोजन और निवास-सब कुछ उसे प्रकृति से प्राप्त होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता गया है-इनमें मानव-श्रम की परोक्षता बढती गई है और मानवजीवन अधिकाधिक जटिल होता गया है। फिर भी इन सब चीजों के पाने का जरिया प्रकृति के अलावा अन्य कुछ नहीं है।

प्रकृति हमारी माता है, हमारी गुरु है। उसी में से हमारा शरीर जो हमारी आत्मा का वाहन है, आता है और अपनी अवधि के बाद फिर उसी में घुल मिल कर समाप्त हो जाता है। अपनी माता का सान्निध्य जीवन के पूर्व और पश्चात् ही नहीं, जीवन-काल में भी हमे सदा ही आन्ददायक होगा।

लेकिन मानव प्रकृति और समाज की देन को बिना कुछ दिये प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें उसे अपना श्रम प्रदान करना ही होगा, तभी वह उसकी होगी, तभी वह उसका अधिकारी होगा। बिना श्रम के अधिकार के कोई चीज प्राप्त करना या प्राप्त करने की इच्छा करना चोरी होगी। इसी चोरी से बचने का प्रयत्न और इसकी निष्ठा का नाम अस्तेय है।

जिस प्रकार पूर्ण अहिंसा की साधना या पूर्ण सत्य की प्राप्ति स्थूल शरीरी मानव के लिए अशक्य ही है उसी प्रकार पूर्ण अस्तेय की स्थिति भी लगभग वैसी ही है। मानव को प्रकृति का वरदान, उसकी सबसे महँगी देन—हवा और जल बिल्कुल बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाते हैं। सभ्यता की सरल स्थिति में भोजन और निवास भी अधिक परिश्रम साध्य नहीं होते। समाज के बहुत से वरदानों का भी उपयोग हम प्राय बिना प्रतिदान के ही कर लेते हैं—हजारों और लाखों व्यक्तियों के जीवनभर के कठिन परिश्रम-स्वरूप विकसित सभ्यता और संस्कृति के महान् आनन्द और ज्ञान का भण्डार अल्प परिश्रम से ही हमारे सामने खुल जाता है। सुख, सुविधा और ऐश्वर्य के साधन हम में से कुछ के सामने केवल विशेष परिस्थितियों के बीच जन्म लेने के कारण इकट्ठे हो जाते हैं। उस परिस्थिति में बीच मानव का कितना उपयोग अपने श्रम के बदले में न्यायपूर्ण

है और कितना अधिकार से अधिक—चोरी है, यह कहना काफी कठिन हो जाता है।

ऐसी परिस्थिति मे अस्तेय व्रत पर आरूढ होने में प्रयत्नशील मानव के लिए यही व्यावहारिक मार्ग रह जाता है कि वह अधिक से अधिक शारीरिक और बौद्धिकश्रम समाज को देने का प्रयत्न करे और अपने स्वय के उपयोग में जितना कम से कम ले सके ले ताकि समाज से जो विरासत उसे मिली है उसका अधिक से अधिक बदला वह समाज को दे सके। उसमें आम बोनेवाले बूढ़े की तरह अपने जीवन के अन्त तक सदा आम की गुठलियाँ जमीन में बोने और उन्हे सींचते रहने में सलग्न रहना है, ताकि जिस तरह उसने अपनी जिन्दगी में दूसरों के बोये आम खाकर ऋण चढाया है उसे इसतरह उतार सके।

यह एक व्यावहारिक रूप वैयक्तिक चर्या का है। वैसे उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार जो भयंकर स्तेय हमारे समाज मे, सारी दुनियाँ में, आज मौजूद है, दुर्बल वर्ग के और व्यक्ति के श्रम के ऊपर सबलवर्ग और समूह अधिकार किये बैठा है, उसका निराकरण कैसे हो?

इसी समाज-व्यापी स्तेय को रोकने के सम्बन्ध में गये हजारों वर्षों से सामाजिक विचारक सोचते चले आरहे है। विभिन्न राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धान्त इसी विचार धारा के फल हैं।

२५०० वर्ष पहले होने वाले अफलातून के साम्य-वाद से लेकर क्रोपाटकिन का अराजकतावाद और गांधीजी का सर्वोदय-सिद्धान्त सभी इस स्तेय का निराकरण करने में व्यस्त रहे हैं। लेकिन इन सिद्धान्तों की दुनियां में स्थापना कैसे हो—इस चट्टान से टकरा कर या तो सारे सिद्धान्त निराशा के खड्डे में गिर पड़े हैं जैसा कि अफलातून ने हताश होकर कहा—जब तक इस दुनियां में जो राजा हैं वे दार्श-निक नहीं होंगे, जो दार्शनिक हैं वे राजा नहीं होंगे तब तक दुनियाँ मे नये स्वर्ग की स्थापना नहीं हो सकती, या लेनिन, बाकुनिन और स्तालिन की तरह वे अपने सिद्धान्तों को हिंसा के बल पर चलाने की कोशिश करते हैं और उसका फल यह होता है कि हिंसा के ताण्डव में सिद्धान्तों का रूप ही बदल जाता है और जिस बिन्दु से चलाना होते हैं, हिंसा की क्रिया-प्रतिक्रिया के घात-प्रतिघात में वे पहुंच कहीं और ही जाते हैं।

इसके विपरीत अहिंसा की नींव पर स्थित सर्वोदय विचारधारा के आधार पर स्तेय का निराकरण व्यक्ति से आरम्भ होता है। वह अपनी साधना और निरन्तर के प्रयत्न, चिंतन और व्यवहार के फल-स्वरूप इस स्तेय से बचता है। वह समाज की विरासत के लिए हमेशा अपने आपको समाज का कृतज्ञ समझता है और उऋण होने के लिए अपने जीवन

को समाज के काम में खपा देता है। वह अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को कम से कम कर लेता है। संक्षेप में वह कम से कम लेता है और अधिक से अधिक देता है। व्यक्ति का उदाहरण संस्थाओं और समूहों को बनाता है और उनमें जीवन भरता है। व्यक्ति और संस्थायें शासन और समाज दोनों पर प्रभाव डालेंगी और उन्हें ओत-प्रोत कर देंगी। इस तरह एक अहिंसक क्रांति का अवतरण होगा, जो अपने निश्चित उद्देश्य से आरम्भ हो कर निश्चित लक्ष्य तक पहुँच सकेगी। यह अहिंसक क्रांति व्यक्ति और समाज में व्याप्त स्तेय को खत्म कर सकेगी। इस स्थिति तक पहुँचने के पहले व्यक्ति और संगठन अस्तेय का चिन्तन और व्यवहार करें। समाज को अधिक से अधिक दें और उससे कम से कम लें। इसी मापदण्ड से अपने कार्यों और भावनाओं का लेखा-जोखा हम रक्खें, तो अस्तेय की ओर अधिकाधिक अग्रसर होने में समर्थ होंगे।
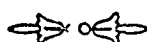
ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ हो सकता है—ब्रह्मोन्मुख व्यक्ति की चर्या, अर्थात् जो व्यक्ति ईश्वर या गांधीजी के शब्दों में सत्य, आत्मा या समाज-जिसे गीता में 'पर' कहा है उसे समाज के अर्थ में लिया जा सकता है और लिया जाना चाहिये, की ओर झुका हुआ है, उसका आचरण किस तरह का हो—इसकी झाँकी ब्रह्मचर्य के शब्दार्थ द्वारा होती है और वह समूचा आचरण इस शब्द में समाया हुआ है।

यह सही है कि ब्रह्मचर्य का अर्थ आम तौर पर स्त्री-पुरुषों के आपसी सम्बन्धों तक सीमित मान लिया गया है और ब्रह्मचारी उसे कहा जाता है जो यदि पुरुष हो तो किसी स्त्री से और स्त्री हो तो किसी पुरुष से किसी भी प्रकार का विषय—भोग सम्बन्ध न रक्खे। निश्चय ही यह अर्थ संकुचित है और इस लिये ब्रह्मचर्य के पूरे आशय को ग्रहण नहीं

करता, लेकिन फिर भी यह एक बड़ी वस्तुस्थिति की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है और वह है दुनियाँ में स्त्री-पुरुषों के यौन सम्बन्ध का मानव-जीवन पर प्रभाव।

स्त्री और पुरुष मानव समाज रूपी रथ के दो पहिये हैं, दोनों अपने आप मे पूरी इकाई है, लेकिन रथ में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण और प्रेम भी स्वाभाविक है, क्योंकि उसके बिना सृष्टि का कम चल नहीं चल सकता और दोनों मिल कर ही परिवार की इकाई बनाते है।

यह आकर्षण मानवेतर अन्य बहुत से प्राणियों में है, जिनमें सृष्टिक्रम नर और मादा के सयोग से चलता है, लेकिन मानव मे एक विशेषता होती है जो अन्य प्राणियों में बहुत कम है। वह है बुद्धि और भाषा का विकास, जिसके कारण मानव अपने जीवन के तरीकों और आदर्शों मे परिवर्तन कर सकता है और 'स्व' से अलग 'पर' को जान सकता है और उसकी ओर बढ सकता है। इस बुद्धि और भाषा का उपयोग जहाँ मानव ने एक ओर पशुओं और पक्षियों की भाति स्त्री-पुरुष के अमर्यादित सयोग पर अकुश मे किया और विवाह और परिवार जैसी मर्यादित प्रथाओं का आविष्कार किया, वहा उस सीमित क्षेत्र मे या कभी-कभी उसकी सीमा से थोड़ी बहुत दूरी पर भी—इस स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को पशुओं की भांति

केवल ऋतुकालीन सम्बन्ध से ऊपर उठाने के बजाय मात्र अपनी इच्छा और शक्ति के बल पर आधारित कर नीचे गिरा लिया और इस सम्बन्ध को अपने सामाजिक जीवन पर अमर्यादित रूप से हावी हो जाने दिया।

यह स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की अमर्यादित और अस्वाभाविक रूप से बढ़ी हुई भावना जिसे कामुकता कहा जाता है, पुरुष और स्त्री में इतनी प्रबल हो गई कि वह ईश्वर आत्मा, सत्य और समाज की ओर मानव को उन्मुख करने और आगे बढ़ाने में एक बहुत बड़ा विघ्न बन गई है, और इस सारी भावना के पीछे लगी हुई मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति को बिना ऊपर से रोके मानव उस दिशा में नहीं बढ़ सकता, इस लिये पुराने जमाने से ही इस देश के विचारकों ने ब्रह्मोन्मुखी बनने के लिये स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की ओर विशेष ध्यान दिया और इस बात को बहुत जरूरी माना कि ब्रह्मोन्मुख बनने की इच्छा रखने वाले स्त्री-पुरुषों के लिये विषय-भोग के सम्बन्ध को मर्यादित कर दिया जाय और उस मर्यादा को कड़ी करते करते विषय-भोग के सम्बन्ध से बिल्कुल ऊपर उठ जाया जाय।

यह तभी सम्भव है जब मानव को गीता के शब्दों में 'पर' का दर्शन हो जाय। जब मानव का हृदय ब्रह्म, सत्य, आत्मा या समाज की ओर इतना आकर्षित हो जाय कि उसके

अतिरिक्त अन्य आकर्पणों मे उसे 'रस' ही न आवे तभी काम-भावना से विरक्ति सम्भव है। इसके विपरीत यह भी बिल्कुल सही है कि जब तक मानव का अपनी वासना पर अधिकार नहीं होगा, तब तक इसे यह दर्शन नहीं हो सकता। इस प्रकार मानव का ब्रह्मोन्मुखी होना और वासना की नीरसता दोनों साथ साथ ही चलने चाहिये। मानव अपनी वासना पर अंकुश भी लगाता जाय और ब्रह्म, आत्मा अथवा समाज के हित सम्बन्धी ज्ञान और कर्म मे भी अधिकाधिक रत रहे, तभी उसे सफलता मिलेगी।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग तो स्त्री-पुरुप के बीच कामुकता से रहित विशुद्ध मानव सहयोग और समानता का व्यवहार ही है। जो विभिन्नता स्त्री-पुरुप से प्रकृति ने आंतरिक या वाह्य की है उसके अतिरिक्त विभिन्नता को इसमे स्थान नहीं है और इससे ऊच नीच की तो कोई भावना बन ही नहीं सकती। और जब मानव का हृदय ब्रह्म, आत्मा या समाज की भावना से ओतप्रोत, है तो दूसरी भावना इसमें समा ही नहीं सकती। स्त्री जगज्जननी है—यह मातृभाव पुरुप मे स्त्री के प्रति और पुरुप परब्रह्म है-यह परमात्मभाव स्त्री मे पुरुष के प्रति आदर्श रूप है। इससे जितने हम नीचे है, उतना ही मार्ग हमें तय करना है, उतनी ही साधना हमारी बाकी है। इस तक पहुँचने के लिये

ही विवाह की संस्था का महत्त्व है और पतिव्रत या पत्नीव्रत की आवश्यकता है। इसके बाद फिर नियत अवधि के लिये ब्रह्मचर्य का अभ्यास और फिर पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम जरूरी है। इस मार्ग में जितना हम आगे बढ़ आये हैं उससे पीछे हटने का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि उस आदर्श से जितने दूर रह गये हैं उतना ही खेद और जितने जल्दी और दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ें उतनी ही उत्कंठा और प्रयत्न आवश्यक है। यही हमारे सारे नैतिक जीवन का आधार है।

ब्रह्मचर्य की इस अवस्था को साधने के लिये हमें अपनी सभी इन्द्रियों की वासनाओं को लगातार अधिकाधिक सीमित करते जाना होगा। वस्त्रों में, रहन-सहन में, भोजन में, सुगन्धित द्रव्यों, स्वादिष्ट वस्तुओं आदि पाँचों कर्मेन्द्रियों की सारी वासनाओं और लुब्धकता में उत्तरोत्तर कमी और परिमितता लाने की ओर जागरूक होना होगा। इसका फल यह होगा कि हमारी जितनी विचारशक्ति और कार्यशक्ति इन 'अपर' 'स्व', 'शरीर' या जड़ में लग रही है वह वहाँ से मुक्त होकर 'पर' की ओर अधिकाधिक लग सकेगी। 'स्व' की ओर से हटने और 'पर' की ओर लगने में जो आचरण सहायक होता है वही ब्रह्मचर्य है और वह हमारे समग्र विचार और आचरण का संयम है। यही भारतीय संस्कृति में मुक्ति और अमरत्व की साधना है।

अपरिग्रह

मानव बुद्धिशील सामाजिक प्राणी है। बुद्धि मानव को दूरदर्शी बनाती है। आज की अभी की आवश्यकता की पूर्ति करा लेना ही काफी नहीं, आज के बाद की कल की, परसों की जरूरतें भी उसके ध्यान में आ जाती हैं और उनके लिए पहले से पहले प्रबन्ध करना उसके बुद्धियुक्त होने का प्रमाण है। इसी दूरदर्शिता ने, बुद्धिमानी ने, कल की व्यवस्था आज कर लेने के प्रयत्न ने जहाँ मानव को आध्यात्मिक और भौतिक विकास का मौका दिया है वहाँ मानव की अधिकांश बुराइयों को भी जन्म दिया है और उन्हें मानव के पीछे अविच्छिन्नरूप से लगा सा दिया है। वैयक्तिक सम्पत्ति का आधार यही मानव बुद्धि है, इस वैयक्तिक सम्पत्ति ने दुनियाँ की आधी बुराइयों को पैदा किया और बढ़ाया है।

मानव की दूसरी विशेषता सामाजिकता है। मानव समाज में जन्म लेता है और रहता है। वह स्वयं परिवार के सदस्य के रूप में प्रगट होता है और स्वयं परिवार का निर्माण करता है और अपने पीछे परिवार के क्रम को छोड़ जाता है। इस सामाजिकता ने मानव के सारे ज्ञान, कला और संस्कृति को जन्म दिया है और विकसित किया है और सामाजिक होने के कारण ही वह इस सारी विरासत का अधिकारी बना है। पुरुष और स्त्री का आकर्षण और सहयोग स्वाभाविक और अनिवार्य है और मानव की सामाजिकता इसका आवश्यक परिणाम है, लेकिन यह पारिवारिकता के रूप में मानव का सबसे बड़ा अभिशाप, उसकी उन्नति में—समाज की प्रगति और भलाई में बाधक, सबसे बड़ा रोड़ा भी है। दुनिया की सारी स्वार्थी बुराइयाँ [illegible] इस पारिवारिकता का परिणाम है। यही पारिवारिकता वैयक्तिक सम्पत्ति को सुदृढ़ बनाती है और वैयक्तिक सम्पत्ति इस पारिवारिकता को बाँधे रखती है। इस प्रकार आज की दुनियाँ में—व्यक्ति और समाज दोनों के लिये सबसे बड़े बन्धन सबसे बड़े रोड़े पारिवारिकता और वैयक्तिक सम्पत्ति हैं।

यह दोनों बुराइयाँ दुनिया के महान् व्यक्तियों को आज से नहीं हजारों वर्ष पहले से मालूम हैं और आज तक जितनी राजनैतिक और सामाजिक विचारधारायें विकसित

हुई हैं उन सब ने इन दोनों बुराइयों को अपनी अपनी परिस्थितियों और विचारों के अनुसार दूर करने का प्रयत्न किया है। आज से ढाई हजार वर्ष पहले अफलातून ने आदर्श-राज्य का विचार करते हुए वैयक्तिक सम्पत्ति का नाश कर राज्य के द्वारा ही भोजन, वस्त्र आदि वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सिद्धान्त का निरूपण किया था और स्त्रियों को भी समग्र समाज के लिये निश्चित कर योग्य पुरुष के लिये योग्य स्त्री से सम्बन्ध तय कर सन्तान के लालन-पालन का काम भी समाज को सौंप कर परिवार प्रथा को खतम कर देने का समर्थन किया था। इस प्रकार अफलातून ने परिवार प्रथा और वैयक्तिक सम्पत्ति दोनों की जड़ खोद कर पूर्ण साम्यवाद का सिद्धान्त स्थिर किया था। अफलातून से लेकर क्रापाटकिन तक सारे समाजवादी, साम्यवादी, अराजकतावादी कम और ज्यादा रूप में दुनियाँ की बुराइयों को दूर करने के लिये इन दोनों प्रथाओं को उखाड़ फेंकने के ही समर्थक है।

इस सिद्धान्त में एक बड़ी भारी कमी है। यह सिद्धान्त मानव को व्यक्ति नहीं समझता, उसे पूरी तरह सामाजिक ही मान कर चलता है। जब परिवार की जिम्मेदारी मानव पर नहीं होगी, तब वह परिश्रम ही क्यों करेगा? जब परिवार का सयम और बन्धन नही होगा, तब मानव यौन-

सम्बन्धों मे और वस्तुओं मे, भोगोपभोग मे नीता क्यों वरतेगा और उसे समाज के हित मे अधिक से अधिक देने मे प्रेरणा कैसे प्राप्त होगी और क्यों होगी? इस प्रकार पूर्ण साम्यवाद क्या सम्भव भी है? और सम्भव भी हो तो वह कैसे प्राप्त होगा?

इसके अलावा अराजकतावाद के अतिरिक्त समाजवाद के सभी समर्थकों ने शासन-व्यवस्था को देश के साधनों और मानवों का पूरा नियन्त्रण सौंप दिया है, लेकिन इससे पैदा होने वाली विषमता की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। सत्ता के केन्द्रीकरण का परिणाम तानाशाही और एकतन्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, अर्थात केन्द्रित सत्ता और पूर्ण समाजवाद दो विरोधी तत्त्व हैं। ये साथ टिक नहीं सकते, लेकिन आज के समाजवाद और साम्यवाद यही करना चाहते हैं।

दूसरी ओर अरस्तू से चल कर आज तक ऐसे विचारकों की श्रेणी चली आई है जो व्यक्ति पर समाज को आधारित करते है और अधिक या कम मात्रा मे व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहते हैं सरकार का कम से कम नियन्त्रण उस पर चाहते हैं और समझते हैं कि स्वातन्त्र्य मे व्यक्ति अधिक से अधिक विकसित होगा और स्वतन्त्र व्यक्तियों का समूह-समाज अपने आप उन्नत हो जायगा। ये विचारक

सम्पत्ति और पारिवारिकता को बिल्कुल नहीं छोड़ना चाहते। यह विचार चाहे सैद्धान्तिकरूप से ठीक लगता हो किन्तु व्याव-वारिकरूप से बहुत हानिकर साबित हुआ है क्योंकि पारि-वारिकता और वैयक्तिकसम्पत्ति के अमर्यादित रूप ने ही सामन्तवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की बुराइयों को जन्म दिया है और वर्तमान सामाजिक विषमता का बहुत बड़ा कारण वैयक्तिक स्वतन्त्रता का यह विकृत रूप ही है जिसमे कुछ लोगों को लूटने की और बाकी को लुट जाने की पूरी आजादी है।

इन दोनों अतिवादों की बुराइयों से बच जाने और इनकी भलाइयों को अपना लेने का तरीका गांधीजी ने अपने विचार और व्यवहार द्वारा दिया है। पहली बात तो यह है कि इसमे मानव की वैयक्तिक सम्पत्ति और पारिवारिकता कायम तो रखी गई है, लेकिन अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के द्वारा उनकी बुराइयों को हटा देने का प्रबल प्रयत्न भी साथ मे किया गया है। मनुष्य अपनी जरूरतें कम से कम रक्खे, अपने शरीर के लिए न्यूनतम साधन काम मे लावे, भविष्य के लिये भी लम्बे चौड़े साधन जमा करके रखने की आवश्यकता नही। 'हाथ मे कूंडी बगल मे सोटा, चारों दिश जागीरी में' वाला फक्कडपन ही अपरिग्रह की नींव है। इसमे सम्पत्ति केवल छोटा सा साधन रह जाती है, शरीर के चलाने

के लिए। वह साध्य नहीं रहती। हमारी आवश्यकताओं से अधिक जो भी हमारे पास है वह समाज का है, उसके हम रक्षक मात्र हैं, उसे अधिक से अधिक समाज हित में व्यय करना हमारा कर्तव्य है।

दूसरी ओर आश्चर्य की तरफ अधिकाधिक झुकता हुआ मानव पारिवारिकता का कर्तव्य तो पालन करेगा, किन्तु उसके मोह में नहीं पड़ेगा, उसके लिए बेईमानी करने और आत्मा को गिराने वाले काम से वह अलग ही रहेगा, इसलिए सम्पत्ति मानव-पतन का कारण नहीं रहेगी, क्योंकि वह पारिवारिकता की गुलामी से छूट जायगी।

तीसरी ओर सारे समाज का शासन-सम्बन्धी और आर्थिक ढांचा भी अधिकाधिक विकेन्द्रित हो जायगा, इसलिए बहुत अधिक धनवान बनने की गुंजाइश ही आदमी को न रहेगी। सब लोग साधारण तथा सुविधापूर्ण स्तर पर रहेंगे। सत्ता और उत्पादन का विकेन्द्रीकरण सच्चे लोकतन्त्र का जनक होगा और उससे व्यक्ति और समाज दोनों को बल मिलेगा और दोनों का सही समन्वय होगा। न व्यक्ति समाज को कुचल कर हिटलरशाही कायम कर सकेगा और न समाज व्यक्ति को कुचल कर स्तालिनशाही।

यह इसलिए सम्भव होगा कि यह सारी क्रांति नीचे से—

व्यक्ति से चलेगी और अहिंसा के साधन से चलेगी अत. जिस उद्देश्य को लेकर चलेगी, उसतक पहुँचेगी, साथ ही समाज के तन्त्र मे भी क्रांति शान्तिपूर्वक होगी, इसलिए वहाँ भी अपने उद्देश्य को प्राप्त करलेगी।

आज दुनियाँ की मूल-भूत बुराई व्यक्ति और समाज की आर्थिक विषमता है और इसका एक ही इलाज है—व्यक्तिगत और सामाजिक अपरिग्रह। वैयक्तिक अपरिग्रह मानव को बन्धन से मुक्त करेगा-समाज के लिए और सामाजिक अपरिग्रह सब प्रकार की सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर समाज को मुक्त करेगा—व्यक्ति के लिए सत्ता के साधनों का यह स्वेच्छापूर्वक त्याग ही मानव को भलाई की अनन्त शक्ति प्रदान करेगा और बुराई की सम्भावनाओं का अन्त करदेगा।

बन जाती है।

फलत: शरीर-श्रम मानव के लिये स्वाभाविक है, आवश्यक है, अनिवार्य है। मानव समाज की बहुत बड़ी संख्या सदा शरीर-श्रम द्वारा अपने जीवन के उपादान प्राप्त करती आई है, और सम्भवत करती रहेगी, लेकिन फिर भी शरीर-श्रम को जीवन-व्रत के रूप में विशेपतौर पर ग्रहण करना मानव के लिये व्यक्ति और समाज दोनों के हित की दृष्टि से आवश्यक है।

मानव के शरीर की जितनी शक्ति है उतना काम बहुत कम लोग उससे लेते हैं। प्राय लोग अपने शरीर की विभिन्न शक्तियों-मानसिक और भौतिक-की पूरी थकावट की सीमा तक पहुँचने के पहले ही काम बन्द कर देते हैं। इसका अन्दाजा इससे भी होता है कि नियमित रूप से काम करते रहने पर मानव अधिकाधिक काम करने लगता है और इसकी योग्यता और शक्ति लगातार बढ़ती जाती है, साथ ही किसी संकट के अवसर पर हमें मालूम होता है कि हम जितना काम कर सकते हैं, उसके मुकाबले में दर-असल आमतौर पर कितना करते हैं।

दूसरी बात यह है कि मानव की और उसकी निरन्तर वृद्धि होनेवाली कर्म-शक्ति का सब से बड़ा शत्रु प्रमाद-आलस्य है। जो भी काम मानव करे उसमें अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करनी हो तो उसे अधिक से अधिक मनोयोग, वचनयोग और

किन्तु यह भी जरूरी है कि बुद्धिजीवी अपने जीवन को संतुलित करने के लिये नियमित रूप से शरीर-श्रम को अपनायें, उसे आदर दें। साथ ही श्रमजीवी लोगों को भी जीवन-यापन के लिये आवश्यक श्रम के अतिरिक्त कुछ नियमित-चाहे वह बहुत कम ही हो-श्रम ऐसा भी करना चाहिये जो समाज के हित मे हो-यज्ञ के रूप मे हो। मानव की प्रतिष्ठा श्रम में है। पसीने की कमाई ही सच्ची कमाई है।

अब प्रश्न यह है कि वह श्रम कैसा हो। बहुत से लोग नियमित रूप से व्यायाम करते है, दण्ड-बैठक निकालते हैं, दौडते हैं या भागते है। बालकों के लिये, बीमारों के लिये या वृद्धों के लिये यह चीजें ठीक समझी जा सकती है, क्योंकि उनके ऊपर नागरिकता का पूरा भार नहीं है। वे इस तरह के व्यायाम कर, अपने शरीर को ताकतवर बनायें या टहलें, या अन्य हल्का व्यायाम करें, लेकिन सशक्त और स्वस्थ नागरिकों के लिये इस प्रकार का निरुपयोगी श्रम एक प्रकार से राष्ट्रीय अपव्यय ही होगा। उनके लिये वाजिब श्रम बगीचे में काम करना, खेत मे काम करना, तथा इसी प्रकार के अपने व्यवसाय से अलग उपयोगी काम होंगे जो शरीर को नियमित रूप से श्रम प्रदान करने के साथ राष्ट्र के लिये और उनके परिवार के लिये भी उपयोगी होंगे।

बड़े शहरों में हो सकता है कि इस तरह के उपयोगी श्रम के लिये सुविधा न हो और वह असम्भव हो जाय, वैसी हालत में नियमित रूप से एक घण्टा या कम अधिक कातना शरीर-श्रम के रूप में सब तरह के व्यक्तियों के लिये लागू हो सकता है। यह श्रम केवल उपयोगी श्रम ही नहीं होगा, और हमारे परिवार और देश की कपड़े की समस्या हल करने में ही सहायक न होगा बल्कि यह हमारी आत्मा को अत्यन्त वाञ्छनीय शान्ति भी प्रदान करेगा, हमारे चित्त को स्थिर करेगा, हमारी मनोवृत्तियों को केन्द्रित करने और शोषण रहित बनाने में मददगार होगा और हमें अपनी जीवन-दृष्टि में संतुलन भी प्रदान करेगा। इसके साथ बड़े शहरों के अप्राकृतिक और अस्वाभाविक जीवन के प्रायश्चित रूप में खुली और साफ हवा में टहलना आदि जैसे व्यायाम भी ठीक माने जा सकते हैं। वैसे बाहर गांवों में तो निश्चितरूप से ही और दूसरी जगह यथासम्भव बगीचे आदि के काम को ही तरक्की दी जानी चाहिये।

सामाजिक रूप से शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा हमारे राष्ट्र को विनाश से बचाने के लिये आवश्यक है। देश में शरीर-श्रम करने वाला वर्ग हीन न समझा जाने लगे, शरीर-श्रम न करने वाले कुछ बुद्धिजीवी लोग अनुचित प्रतिष्ठा और सत्ता न प्राप्त कर लें और बाप दादों के संचित धन और परि-

स्थितियों के कारण प्रमाद और आलस्य का जीवन उनके लिये सम्भव न होने दिया जावे और सम्भव हो भी तो कम से कम उसे आदर्श की आदर की दृष्टि से न देखा जाय—इसके लिये शरीर-श्रम को सामाजिक रूप से प्रतिष्ठा दी जानी चाहिये। बुद्धिजीवी समाज अपने आपको बाकी के समाज से अलग और ऊँचा न समझे और जो दीवार आज गरीबों और अमीरों के बीच खड़ी हुई है जो अलग-थलग दुनियाँ गरीबों और अमीरों ने बसा रक्खी है, जिनका एक दूसरे से कोई सम्पर्क नहीं रह गया है, वे दीवारें शरीर-श्रम की सामाजिक प्रतिष्ठा से ही हटाई जा सकती हैं। वही अमीरों और गरीबों की दुनियाँ में सम्पर्क और सहयोग कायम कर सकती है।

बापू ने रेल्वे के तीसरे दर्जे में सफर करके, हरिजन बस्तियों में रह कर, आश्रम में भोजन बनाने से लेकर पाखाना साफ करने तक सब काम करके, अपने हाथों से चक्की पीस कर, और चर्खा चला कर तो सदा ही, देश के और अन्तर्राष्ट्रीयता के बड़े से बड़े मामलों को हल किया, ४० करोड़ जनता के इस विशाल देश के विराट आन्दोलन का सचालन किया और अब इस आजाद देश के प्रेसीडेन्ट और प्रधान मन्त्री दोनों मिल कर जितना कुछ काम करेंगे उससे बढ़ कर काम उन्होंने किया—इस सब में उन्होंने अपने उदाहरण से व्यक्ति के रूप में और सामाजिक रूप से शरीर-श्रम की जो प्रतिष्ठा की वह अद्भुत थी, महान् थी, उसे हम जितना कायम रक्खेंगे, उतने ही आगे बढ़ेंगे और जितना छोड़ेंगे उतने ही पीछे हटेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं।

—:०—

अनुवाद

जब हम ईश्वर, सत्य, आत्मा या समाज को अपने जीवन का आदर्श और लक्ष्य मान लेते हैं और शरीर को उन तक पहुँचने का साधन, तो हम अपने समग्र जीवन के लिए नया और सच्चा दृष्टिकोण प्राप्त कर लेते हैं और उस कुंजी से जीवन के सारे ताले अपने आप खुलते चले जाते हैं। इस महान तथ्य को स्वीकार करते ही हम एक दूसरे बड़े मतभेद पर विजय प्राप्त कर लेते हैं जो हजारों वर्षों से मानव के मानस का मथन करता आ रहा है, अर्थात् कला कला के लिए या कला उपयोगिता के लिये। हम स्पष्टरूप से कह सकेंगे कि कला कला के लिए—यह दृष्टि ही भ्रामक है, कला तो केवल जीवन के लिए ही—सत्य के लिए ही—हो सकती है। समाज और जीवन के परे कोई कला नहीं हो सकती, कला के नाम से जो अन्य कुछ होगा, वह केवल विलासिता और विकृति होगी जो मानव को विनाश की ओर ढकेलने वाली होगी।

इस दृष्टि से जो कुछ मानव अपने शरीर के लिये ग्रहण करेगा उसमे विलास को कोई जगह नहीं होगी, उसके शरीर को कायम रखने और स्वस्थ रखने के लिये केवल आवश्यक पोषण होगा। इसी उपयोगिता की दृष्टि से वह स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण करेगा। उनमे स्वय से वह लीन न होगा। उनमे इसे 'रस' नहीं आएगा क्यों कि उसका 'रस' तो दूसरी ओर 'पर' की ओर उन्मुख है। इसी 'रसिकता' की तरफ से कछुए की तरह अपने अंगों को मोड़ लेने की साधना को अस्वाद कहना चाहिये।

साधारणत अस्वाद का सम्बन्ध केवल रसन इन्द्रिय-जीभ के स्वाद्—भोजन से मान लिया जाता है और इसमें संदेह नहीं भोजन के सम्बन्ध में अस्वाद का बहुत बड़ा महत्त्व है। मानव शरीर को कायम रखने के लिये भोजन की जितनी बड़ी आवश्यकता है, उतनी ही बडी विकृति इस सम्बन्ध में मानव ने अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे कर डाली है।

भोजन को अधिक से अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिये कितना समय और शक्ति मानव ने लगाई है! अधिक से अधिक चीजो को काम मे लेना, उन्हे अनेकों प्रकार के प्रयोगों के द्वारा अधिक से अधिक स्वादिष्ट बनाना और अधिक से अधिक उन्हें खालेने और खिलाने की कोशिश मे मानों आदमी पागल

ही हो गया है। इसमें नमक ठीक नहीं है, इसमें मिर्च ठीक नहीं है, इसमें खटाई कम है, इसमें मिठास काफी नहीं—आदि के बारे में चिन्ता करते २ हम दुबले ही हुये जा रहे हैं। प्रतिदिन खाना और दिन में कई बार खाना—इस तरह जीवन में हम हजारों ही नहीं शायद लाख बार भी खाते होंगे, फिर भी हर बार इस तरह लगता है मानों कभी खाया ही न हो या आगे खाने को मिलने वाला ही न हो। आपस के मिलने-जुलने पर, बात-चीत करने पर या शादी-ब्याह के अवसर पर, मृत्यु के अवसर पर, जन्म के अवसर पर, खेलने-कूदने के अवसर पर-कोई भी मौका ऐसा नहीं छूटता जिसमें स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन का आयोजन न हो, और मौके का सवाल ही क्या, बिना मौके भी यह सब चलता है। और पश्चिमी सभ्यता में तो खास कर और पूर्वी सभ्यता में भी हर एक सामूहिक अवसर पर भोज अत्यन्त जरूरी चीज है। इस सामूहिक भोजन के समय की बर्बादी शरीर की आवश्यकता से अधिक खाकर तन्दुरुस्ती की बर्बादी, अन्न की बर्बादी जितनी होती है उसका हिसाब लगाना मुश्किल है, लेकिन इससे यह पता चलता है कि मामूली तौर पर हम स्वाद के कितने गुलाम हैं—और हम इसके लिए कितना बड़ा अपव्यय करते रहते हैं।

अगर हम व्यक्ति और समाज की—प्रगति और कल्याण चाहते हैं तो हमें स्वाद की वृत्ति पर अंकुश लगाना ही होगा।

यह अंकुश कई प्रकार का हो सकता है। पहली बात तो यह है कि हमें अधिक खाने और खिलाने की वृत्ति को रोकना चाहिये। इसमें भोजन से शरीर को आवश्यक पोषणमात्र लेने की दृष्टि नहीं, बल्कि उसके प्रति लुब्धकता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से विनाशकारी है, मानव को पतित करती है, उसके आत्म-सम्मान को गिराती है। शारीरिक दृष्टि से यह वृत्ति उसके शरीर के अवयवों पर अनावश्यक बोझ डालती है, पाचन-शक्ति को कम करती है और जो शरीर की बची हुई शक्ति अन्य सामाजिक या वैयक्तिक काम में लगनी वह इस अधिक भोजन को पचाने में लग जाती है, फलस्वरूप अधिक भोजन का सीधा परिणाम आलस्य और प्रमाद होता है जो साधक के सबसे बड़े शत्रु हैं।

दूसरा अंकुश भोजन की स्वादिष्टता पर होना चाहिए। स्वादिष्टता की चाह न हो, बल्कि भोजन किया जाय वह शरीर को अधिक से अधिक पोषण दे - यह ध्यान रखना चाहिये, ताकि भोजन में जितना व्यय हो उसका अधिक से अधिक उपयोग और कम से कम अपव्यय हो। स्वादिष्ट भोजन के लिए तड़प हमारी कर्म-शक्ति को सामाजिक और वैयक्तिक कल्याण से मोड़कर रसनेन्द्रिय की असंभव तृप्ति में संलग्न कर देती है। स्वादिष्ट भोजन की दृष्टि मिर्च-मसाले आदि का उपयोग शरीर में बढ़ाती है। जिन चीजों का प्रयोग दवा के रूप में कभी २

कतम पौष्टिक तत्त्व उसमें कायम रहें, इस प्रकार से तैयार किया हुआ हो, मिर्च-मसाले आदि उत्तेजक अनावश्यक पदार्थों से—जो केवल स्वादिष्ट बनाने के लिहाज से डाले गये हों, रहित हो, वह भोजन नियमित समय पर, नियत परिमाण में किया जाय, दवा की तरह सावधानी से, शरीर अधिकाधिक स्वस्थ और कार्यक्षम रह सके—समाज या ईश्वर या आत्मा की सेवा और कल्याण के लिए—केवल इसीलिए भोजन एक साधन के रूप में हो।

सामाजिक गुण के रूप में अस्वाद का व्यवहार केवल राष्ट्रीय आय को ही बढ़ाने वाला नहीं होगा, बल्कि राष्ट्रीय शक्ति और समय की भी बहुत बड़ी बचत करेगा। हमारा भोजन जीवन के लिए है न कि हमारा जीवन भोजन के हेतु-इस महान सत्य का सामाजिक रूप में व्यवहार सारे राष्ट्र के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने वाला होगा। हमारे राष्ट्र को आदर्शनिष्ठ तथा कर्मशील व्यक्तियों का व्यवस्थित समाज बनाना हो तो हमें अपने आप में आंतरिक अनुशासन का विकास करना होगा—और इस आंतरिक संयम के विकास में अस्वाद का बहुत ऊँचा स्थान है।

निर्भयता

जो सत्य को अपने जीवन का आदर्श मानता है, जो सत्य का आग्रही है उसे भय नहीं होना चाहिये, क्योंकि सत्य और भय परस्पर विरोधी हैं, साथ नहीं रह सकते। जहाँ भय है, वहाँ असत्य है। जो सत्य है, शाश्वत है उसके साधक को किस चीज का भय हो सकता है? मृत्यु एक साधारण और शाश्वत प्राकृतिक व्यापार है। अपमान, स्वास्थ्य-हानि, बेरोजगारी आदि आर्थिक उतार चढ़ाव हैं, भूख, बीमारी और गरीबी उस अस्थायी और निश्चय नाशवान शरीर के विकार मात्र हैं—शरीर स्वयं एक भौतिक साधन और आत्मा की अपूर्ण अवस्था का अनित्य प्रतीक है अतः सत्य-द्रष्टा को भय नहीं हो सकता, निर्भयता उसमें स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होती है। लेकिन पूर्ण सत्य इस मानव की शरीरावस्था में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वह भौतिक शरीर के अपूर्ण साधन

के साक्षात्कार के परे की चीज है, इसलिये पूर्ण निर्भयता भी मानव शरीर की अवस्था मे शक्य नहीं है। मानव को सतत अभ्यास से सत्य का दर्शन होता है, वैसे निर्भयता प्राप्त करने के लिये भी सतत साधना आवश्यक है।

निर्भयता की प्राप्ति मे सबसे बड़ी सहायता अहिंसा के व्यवहार से मिलती है क्योंकि जहाँ हिंसा है, वहाँ प्रतिहिंसा है और जहाँ प्रतिहिंसा है वहाँ भय विद्यमान है। हिंसा का परिणाम भय अनिवार्य है। व्यक्तिगत रूप में या सामाजिक रूप मे हम जिस तरह अहिंसा को अपने विचार और साधन के रूप मे अपनाते जायँगे, भय के कारण बराबर कम होते जायँगे और इसमे निर्भयता की मात्रा बढती जायगी, इस प्रकार सत्य का आदर्श और अहिंसा का व्यवहार हमारे जीवन को उत्तरोत्तर निर्भयता की ओर बढाने मे निश्चय रूप से लाभदायक होगा। इसमे दो नहीं हो सकते।

इस प्रकार निर्भयता सत्य और अहिंसा—इन दो सिद्धान्तों का आवश्यक परिणाम है, फिर भी इसका अभ्यास सत्य और अहिंसा को बल देने वाला होगा, उन्हें अधिकाधिक दृढ़ करने वाला ही होगा।

मानव मे भय का प्रमुख कारण भविष्य के बारे मे अनिश्चितता या अज्ञान है। कल क्या होगा—इस प्रश्न का हल

सक्त होने की आदत हम मे विकसित होती जाय तो हम में निर्भयता आ सकेगी।

गरीबी, भूख, बीमारी-वगैरह बुराइयाँ जितनी व्यक्तिगत है, उतनी ही यह सामाजिक भी है। व्यक्तिगत रूप से तो व्यक्ति में इनके प्रति निर्भयता विचारों की दृढ़ता से और जीवन के सही दृष्टिकोण से ही विकसित हो सकती है। मानव की 'पर दृष्टि' और शरीर को 'पर'-सेवा का साधन मात्र समझने और बरतने से वह धीरे धीरे निर्भयता की ओर बढ़ सकता है, लेकिन इन बुराइयों का सामाजिक रूप से निराकरण किया जावे तो मानव मे सामाजिक रूप से निर्भयता का गुण अधिक विकसित हो सकेगा।

गरीबी और भूख के प्रति निर्भयता उत्पन्न करने के दो तरीके हो सकते हैं। एक तरीका तो समाजवाद का है और वह यह है कि सारी जनता को भोजन देने का कर्तव्य सरकार का है। वह सबको अच्छे से अच्छा भोजन, वस्त्र आदि जीवन की आवश्यक चीजें प्रदान करे, वह उनकी बीमारी दूर करने के श्रेष्ठ साधन प्रस्तुत करे, यह जिम्मेदारी पूरी तरह सरकार को उठानी चाहिये। उसके बदले मे आदमी से काम लेने का पूरा अधिकार भी सरकार को है, वह जो काम उपयुक्त समझे और जितना तथा जैसा उपयुक्त समझे व्यक्ति से ले। यह तरीका व्यक्ति के

व्यक्तित्व को बिलकुल खतम करके उसे यन्त्र बना देता है। यह हाथी के उस खिलौने की तरह आदमी को बनाना चाहता है जो एक ओर सूँड के जरिये पानी पीकर दूसरी ओर से सब सारे पानी को निकाल देता है। यह मानव की आत्मा और भावना की शक्ति का बिलकुल ख्याल नहीं करता। दूसरा तरीका पूँजीवाद का है जो बने भालों और पञ्जों वाले तेज शक्ति बलशाली भेड़ियों और निरीह भेड़ों को एक ही बाड़े में छोड़कर दोनों को मुकम्मल आजादी दे देता है—एक को शिकार करने की और दूसरे को शिकार बनने की। यह दोनों ही तरीके सामाजिक निर्भयता को नष्ट करने वाले हैं। होना यह चाहिये कि समाज का सङ्गठन इस तरह का हो कि अधिक शक्ति, अधिकार और धन किसी के पास केन्द्रित होने ही न पावे, छोटे छोटे धन्धे विकेन्द्रित रूप से सारे देश में फैले हों, शासनविधान कम से कम विषमता पैदा करनेवाली हो। थोड़ी बहुत विषमता जो बाकी रहे उससे सामाजिक जीवन में अधिक अन्तर न पनप सके इसलिए सभी नागरिक निष्काम कर्म की भावना से अनुप्राणित हों—एक सबके लिए और सब एक के लिए बनकर। वे फर्ज अदा करने के लिये तैयार हों और व्यक्ति, परिवार, कुनबा गाँव और शहर सबके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अपने से सामने छोटे छोटे अधिकारों को छोड़ने को राजी हों, किन्तु साथ ही आत्मा की आवाज के विपरीत स्थिति के मुकाबले में सारी दुनिया से टक्कर लेने की भावना बनाये और सामाजिक रूप से ऐसे ही व्यक्ति और समाज दोनों सच्चे रूप से कायम रह सकते हैं और

अल्पमत की समृद्धि से वहुत मे भय और वहुत की समृद्धि से अल्पमत में भय की स्थिति से वचाव हो सकता है। सवकी समृद्धि की नीति और निश्चय तथा सवमे कर्तव्य भावना का विकास और व्यवहार ही व्यक्ति और समाज में निर्भयता पैदा कर सकता है और उसे स्थाई कर सकता है। उस अवस्था मे गरीवी और भुखमरी का भय विलकुल खतम हो जायगा। व्यक्ति अपनी वैयक्तिक विचार-भावना के कारण उसकी परवाह नहीं करेगा-हाथ मे कुडी वगल मे सोटा, वाली मस्ती उसमे वैयक्तिक रूप से आजायगी दूसरी ओर सामाजिक सगठन ऐसा होगा कि अजीर्ण असम्भव हो जायगा। तव भुखमरी भी नही रहेगी। लोगों की स्वाभाविक जरूरतें थोड़ी होगी, उनकी दृष्टि समाजोन्मुखी होगी तो पूर्ति वहुत आसान हो जायगी क्योंकि दरिद्रता तो तभी फैलती है जवकि या तो कुछ लोग दूसरों के हिस्से का खाजायें या लोग अपने हिस्से का काम न करें, अन्यथा प्रकृति के भण्डार मे दो हाथ और एक मुख वाले मानव का पेट भरने के लिए कभी कमी पडने वाली नही है। जव यह दोनो कारण नही रहेंगे तो वह दोष अपने आप खतम होजायगा।

रही तीसरी ओर मौत की वात—सो यह दोनों ही मानव शरीर के सचित विकारो को दूर करने या मानव-शरीर के वेकार होजाने पर आत्मा को उसके अनावश्यक वन्धन से मुक्त करदेने के प्राकृतिक तरीका है। आत्म-सयम और शरीर-संयम के

सर्वधर्म समभाव

एकता के अन्तर्गत विविधता और विविधता में अन्तर्हित एकता—इसी का नाम विश्व है और यही द्वैत मानव और धर्म दोनों में व्याप्त है। मनुष्य-मनुष्य सब एक से हैं—वही नाक, वही कान, वही मुँह, वही पिन चुभाने पर तकलीफ और वही क्लोरोफार्म सूँघने पर बेहोशी, लेकिन फिर भी कितना बड़ा अन्तर कुछ काले, कुछ गोरे, कुछ पीले, कुछ लम्बे कुछ ठिगने, कुछ बौने, कुछ एक भाषा बोलने वाले कुछ दूसरी, कुछ तीसरी, कुछ जानवर का ही नहीं आदमी तक का भी गोश्त खाजानेवाले, कुछ चींटी तक को मारने से झिझक जांय, और दूध इसलिये नहीं पीयें कि उस जानवर के बच्चे के हक का अपहरण होता है। जिस प्रकार एकता सम्बन्धी बातों का पार नहीं, उसी प्रकार विविधता सम्बन्धी बातें भी अनन्त हैं। इसमें कौन अच्छी या बुरी? नाक लम्बी अच्छी या

छोटी, काली या गोरी, पीली या लाल—इस मूर्खतापूर्ण प्रश्न का उत्तर और इसके लिए लड़ाई भी क्या? जैसी तुम्हारी नाक वही अच्छी तो बुरा क्या है—सावन के अन्धे को सब कुछ हरा ही तो दिखता है। अगर तुमसे भिन्न दूसरी तरह की चीज तुम्हें रुचे तो क्या बुराई है—भिन्न गुण धर्म वालों में आकर्षण होता है—यह तो आकर्षणशक्ति का विज्ञान ही है। इसी प्रकार समन्वयात्मक दृष्टि सभी धर्मों में अच्छाई को समझने की ओर उसी को ले लेने की चेष्टा करती है, बुराई को तो बिल्कुल अछूती ही छोड़ देती है।

मुझे यहां एक चीनी प्रोफेसर की कहानी याद आती है जो पहली बार अमेरिका गया था। जहाज से उतरने के कुछ देर बाद एक पत्रकार ने उससे पूछा—अमेरिका में सबसे विशेष बात आपको क्या लगती है? उसने मुस्करा कर व्यंग्य-पूर्वक कहा—यहां के लोगों की आंखें कुछ [illegible] तरह की तिरछी तिरछी और पतली सी लगती हैं। अपने दृष्टिकोण से यह बात अटपटी लग सकती है लेकिन मंगोलियन की तरह यह बिल्कुल ठीक है। यह एक दूसरी सच्चाई है जो हमें कभी नहीं भुलानी चाहिये। मानव की तरह प्रत्येक धर्म भी अपने देश, समय और परिस्थितियों के प्रभाव से बना है। जिस तरह प्रत्येक मानव में मानवता के कुछ सामान्य गुण होते हैं किन्तु अपने देश और समय की कुछ विशेषताएं

होती है, उन्हें हमें समझना चाहिये और उचित मान देना चाहिए। तभी हम धर्मों के विषय में सही ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

धर्म वास्तव मे दुनियां के सबके सामने प्रकट तथ्यों और प्रत्येक समय विशेष की परिस्थितियों के समन्वय का प्रयत्न है जो किसी देश विशेष के कुछ अद्भुत प्रतिभा, शक्ति तथा कल्पना और ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों ने किये। उन्होंने सही पृष्ठभूमि अपने चारों ओर की परिस्थितियों और परम्पराओं से ग्रहण की और अपने समय की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया। उनकी साधना और विचार उनके समय और पीछे के लोगों के लिए आदर्श बन गये और वे विचार तथा क्रियाएं धीरे २ निश्चित नियमों में बँध कर एक २ सम्प्रदाय या धर्म बन गई। अगर यह विचारधारा अपने प्रदेश मे चालू धर्म से प्रबल हुई तो उसे गौण बना कर स्वयं धर्म बन बैठी और अगर कमजोर हुई तो उसकी गोदी में बैठ कर सम्प्रदाय बन कर रह गई।

यही कारण है दुनियाँ मे सदा से अनेक धर्म रहते चले आये है, पैदा हुए है, बढ़े है और खतम हो गये हैं। सभी धर्मों ने दया, प्रेम, सच्चाई, परोपकार आदि को सही बताया है और उनकी तारीफ की है। यह दूसरी बात है कि अपनी

परिस्थितियों के कारण एक धर्म चींटी तक को मारने को बुरा समझता है, दूसरा उस दया की भावना को मानव तक सीमित रखता है और मांस खाने में कोई बुराई नहीं देखता। वैसे पूर्ण अहिंसा या दया तो मानव में सम्भव ही नहीं—सांस लेना, खाना पीना सभी में प्राण नाश तो है ही। दोनों ही संयम हैं, उनकी केवल मर्यादा ही अलग है। फिर एक से प्रेम और दूसरे से द्वेष क्यों?

एक धर्म व्यक्तिगत परमात्मा को मानता है—जिसने इस सृष्टि को बनाया। यह [illegible] भी नहीं है, और राजतन्त्र के जमाने में, निरंकुश शासन और समाज संगठन के जमाने में अगर परमात्मा की ऐसी कल्पना बने तो क्या आश्चर्य? जो व्यक्ति या समाज बिना कोई नियन्त्रण की कल्पना नहीं कर सकता उसके लिए ऐसा ही परमात्मा मददगार हो सकता है, वहां परमात्मा के आधार पर निरंकुश समाज भी [illegible] ही बन जायेगा।

दूसरे धार्मिक जो अव्यक्तिगत परमात्मा में विश्वास करते हैं, जो निराकार ईश्वर में भरोसा करते हैं, जो विश्व-स्रष्टा ईश्वर को मानते हैं या जो उसे बिल्कुल नहीं मानते वे सभी अपनी मान्यताओं से एक ही प्रकार के नैतिक आदर्शों का तो समर्थन करते हैं, उन्हीं नैतिक गुणों-दया [illegible] सबका ही तो वे आचरण चाहते हैं। जो मानना है अभिन्न

को स्वीकार करते हैं या नहीं करते हैं, जो पुनर्जन्म को मानते हैं, वे सब भी इन्हीं नैतिक उद्देश्यों और आदर्शों को लेकर चलते हैं और उनके व्यवहार पर ही जोर देते हैं।

इसीलिए यह निश्चय है कि सभी धर्म सच्चे हैं और अच्छे हैं—इस दृष्टि से कि सभी मानव को नैतिक अच्छाइयों की ओर प्रोत्साहित करते हैं, समाज को अपनी वर्तमान स्थिति से ऊँचा उठाने की कोशिश करते हैं, इसलिए किसी भी धर्म को बुरा कहने का तो सवाल ही नहीं है, सब एक ही लक्ष्य की ओर जाने के अलग २ मार्ग हैं। वह लक्ष्य है सत्य या ईश्वर। उसे नैतिकता या आत्मोन्नति या समाजोन्नति भी कहा जा सकता है।

दोष हरेक धर्म में है। दोष किसमें नहीं है? पूर्ण सत्य तो मानव मे समा नहीं सकता. कम से कम अनित्य शरीर से युक्त अवस्था में तो यह असम्भव ही है। पर दोष तो हम अपने धर्म में ही ढूँढें, उसी मे क्या कम है? और फिर दोष ढूँढने से हमारी क्या भलाई होने वाली है, समाज की क्या भलाई होने वाली है? धर्मों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले इनेगिने समाजशास्त्री विद्वान् करें तो करें, बाकी के लिए यह सब झंझट अनावश्यक है।

हमारी दृष्टि धर्म के विषय में समन्वयात्मक और गुण-ग्रहण करने वाली हो। प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध में उक्त धर्म की ऐतिहा-

सिक परिस्थिति की ओर व्यवहार की दृष्टि से सोचें और आज जितना लाभ उससे प्राप्त कर सकते हों - करलें, केवल विरोध और वादन्दृष्टि को छोड़ दें। हरेक धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखें, क्यों कि प्रत्येक धर्म में अभिनव बुद्धि और शक्ति सम्पन्न महापुरुषों का सहयोग रहा है और प्रत्येक धर्म ने अपने समय और परिस्थितियों में समाज में महान् क्रांति की है, प्रत्येक धर्म मानव में नैतिकता की प्रतिष्ठा करने वाला ही हुआ है। हम अपने धर्म के मर्म को आस्था से मानें और आचरण में उसे उतारें तो निश्चय ही किसी दूसरे धर्म के प्रति सिवाय आदर के हमारे मन में और कुछ भावना नहीं पैदा हो सकती। जैसे हिन्दू मन्दिर में एक या दो मूर्तियां उन देवताओं की होती है जिनके नाम से वह मन्दिर मशहूर होता है, बाकी और भी अनेक देवताओं की मूर्तियां उस मन्दिर में होती हैं और उन सबकी पूजा भी बराबर की जाती है उसी प्रकार जिस धर्म में हम पैदा हुए हैं या जिसे हमने स्वीकार कर लिया है उसे हम मानें, किन्तु संसार के अन्य सब धर्मों के प्रति भी हमारी पूज्य भावना हो। यह दृष्टिकोण सबका उदय केवल अपना, अपने वर्ग का या केवल भारत का ही नहीं, बिना अपवाद के सबका कल्याण चाहने वाले और इसके लिए प्रयत्नशील मानव या मानव-समूह के स्वाभाविक रूप से अपने आप ही बन जायगा और बनना चाहिये। वहां धर्मों के प्रश्न पर विवाद और द्वेष, मनमुटाव या ईर्ष्या की भावना ही असम्भव है।
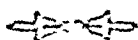
स्वदेशी

मानव, आत्मा की दृष्टि से, शाश्वत और व्यापक है, किन्तु वर्तमान स्थिति में वह शरीर के अन्दर मर्यादित होने के कारण देश और काल दोनों ही में सीमित है, और यह मर्यादा उसके लिये इतनी ही सत्य है जितना उसका सनातनत्त्व और सूक्ष्मता, वल्कि यह तो प्रत्यक्ष और भौतिक सत्य है जो बराबर उसके साथ है। इसलिये मानव को मर्यादा और सीमा की ओर भी देखना ही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर, भौतिक से सूक्ष्म की ओर, अनित्य से नित्य की ओर ही बढ़ सकता है। अगर वह अपने चारों ओर के प्रत्यक्ष को भूल कर उससे दूर भाग कर दूर के प्रत्यक्ष की ओर ही दौड़ने का प्रयत्न करेगा तो अपना पथ भूल जायगा, वह गलत दिशा में भटक जायगा। उसे तो प्रत्यक्ष को सामने रख कर ही अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ना होगा।

मानव किसी न किसी परिवार में जन्म लेता है और रहता है—वह उसकी पहली मर्यादा और सीमा है। उसे अपने माता पिता, भाई-बहिन, पति या पत्नी, बालबच्चे आदि के प्रति अपना कर्तव्य पालन करना है। यदि कोई व्यक्ति अपने घर-वालों के प्रति क्रूर, अनुत्तरदायित्वपूर्ण है और उन्हें कष्ट देता है और देशभक्ति और विश्वबन्धुत्व की बात करता है तो वह निश्चय उसकी आत्मवंचना ही होगी।

परिवार के बाद मुहल्ला, गांव या शहर, प्रान्त और देश के प्रति मानव के कर्तव्यों का प्रश्न है। वह सब उत्तरोत्तर क्रमवार रूप में उसके समय और शक्ति के लिहाज से भिन्न स्थान प्राप्त करेंगे, अर्थात परिवार के लिये जितना समय और शक्ति अनिवार्य रूप से कम से कम लगाना जरूरी है उसे लगाकर उसे अपने मुहल्ले और गांव वालों की भलाई में भी [illegible] रूप से लगानी चाहिये। जब हमारा घर गन्दा है, मुहल्ला गन्दा है, गांव या शहर गन्दा है तब हमें सब से पहले इन गन्दगियों को दूर करने में अपनी ताकत लगानी चाहिये। देश और दुनिया की गन्दगी दूर करने का प्रयत्न हम न भी करें और हमारी सारी ताकत इन छोटे क्षेत्रों में लगे तो कोई हर्ज नहीं है।

यही बात भारत की भी है। हमारे ऊपर सब से [illegible] जिम्मेदारी वर्तमान की है, उसे निभाना हमारा पहला कर्तव्य है।

आज की जो बुराई है जो विषमता है, जो द्वेष और कटुता है उसे दूर करना हमारा पहला फर्ज है। भूतकाल की जिन अच्छाइयों से हमने लाभ उठाया है उन पर हमारी श्रद्धा है उनके पुनरुद्धार में हमारा समय और शक्ति लगे--यह ठीक है और जैसे हम पुरखों के बोये आम के फल खा रहे हैं और उसका ऋण हम उसी प्रकार उतारें कि आगे वालों के लिये आम की गुठलियों और पौधों को सींचा जाय-यह और भी ज्यादा वाजिब है, लेकिन वर्तमान को भुला कर उसकी उपेक्षा करके नहीं, अन्यथा हम अपने कर्तव्य से च्युत होंगे। हम ठोस जमीन को छोड़ एकदम आसमान पर उड़ने की कोशिश करेंगे। मानव को प्रकृति ने पर नहीं दिये है, केवल पैर दिये हैं। वह चढ़ सकता है। धीरे धीरे एक २ कदम चल कर वह पहाड़ की चोटी पर पहुँच सकता है, और उसे पहुँचना चाहिये। वह चढते चढते ऐसी ऊँचाई को प्राप्त कर सकता है कि आसमान में उड़ने वाले बादल और पक्षी दोनों नीचे रह जाँय, लेकिन पक्षी की तरह फुदक कर आसमान मे नही उड सकता।

मानव को अपने दैनिक व्यवहार मे भी इसी मर्यादा का ध्यान रखना होगा। जो वस्तु वह व्यवहार करे वह जहाँ तक संभव हो उसके घर की बनी हुई हो, उसके आगे उसके गाँव या कस्बे की हो, उसके प्रांत की हो, उसके देश की हो। इन सब स्रोतों से भी उसका काम न चले और जरूरत पूरी न हो तो ही

ही विपरीत जा सकती है और व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकर हो जाती है। अपने विचारों और आदर्शों में हमारी दृष्टि वही शाश्वतता—चिर सत्य की हो और जो समय देश और परिस्थितियों से परे और ऊपर है, और अपने व्यवहार में धीरे २ किन्तु निश्चित गति से इसी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये प्रयत्नशील रहें। जहाँ संघर्ष न हो वहां हमारा व्यवहार छोटे क्षेत्र को पहले अपनाने और फिर उत्तरोत्तर अपने क्षेत्र को विस्तृत करने का विचार रहे, लेकिन जहाँ हितों मे संघर्ष हो वहाँ निश्चय ही हम परिवार के हित के लिये अपने व्यक्तिगत हित को छोड़दें, परिवार के हित को मुहल्ले या गाँव की भलाई के मुकाबले में गौण मानें, मुहल्ले या गाँव की भलाई को प्रांत के हित के लिये बलि देदें प्रांत के हित को देश के हित के आगे छोड़ दें और विश्व के हित के आगे देश के हित की पर्वाह न करें। जहाँ अपने हित और व्यवहार का सवाल है वहाँ अपना गाँव, अपना देश पहले, जहाँ दूसरों के हितों का सवाल है, या बाहरी हितों का संघर्ष है वहाँ दुनियाँ का हित पहले और अपने गाँव का हित सबसे बाद और अपना निजी तो उस से भी बहुत पीछे, यही स्वदेशी भावना की सही व्याख्या होगी। लेकिन इन सारे स्वार्थों और परमार्थों के संघर्ष में अपनी आत्मा की-ईश्वर की—सत्य की दृष्टि सर्वोपरि रहनी चाहिये उसके लिये, सत्य की दृष्टि से अगर छोड़ना

समानता (स्पर्श-भावना)

आइन्स्टीन का सापेक्ष-सिद्धान्त भौतिक जगत मे कितना सही है—इस बारे मे मतभेद हो सकता है, लेकिन मानव और उसके पारस्परिक व्यवहार की दुनियाँ मे यह बिलकुल सही है इसमे कोई सन्देह नहीं। एक ही विशेषता एक मर्यादा के अन्दर गुण रहती और उस मर्यादा के बाहर जाते ही अव-गुण बन जाती है। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता, रामराज्य और निरंकुश एकतन्त्र, लोकतन्त्र और भीडतन्त्र, देश-प्रेम और देश-अहंकार आदि इसी सापेक्षता के उदाहरण हैं। स्पर्श-भावना भी समानता के गुण सम्बन्धी मर्यादा की द्योतक है।

मानव-मानव सब बराबर हैं, एक ही आत्मा सब मे विद्यमान है। दुख और आराम का अनुभव सब ही को एक सरीखा होता है। सब ही मे उन्नति करने की, आगे बढ़ने की शक्ति है, सब ही को इसके समान अवसर मिलने चाहिये।

या अन्य रंग की—लेकिन इससे एक छोटा और एक बड़ा, एक ऊँचा और एक नीचा, एक बुरा और एक अच्छा क्या? आर्य जाति, चीनी जाति, हब्शी जाति में—इनके फलस्वरूप अच्छाई-बुराई क्या? यह वर्ण-विद्वेष अनुचित और अन्यायमूलक है, अन्याय से प्राप्त अनुचित अधिकारों को सुरक्षित रखने का एक बहाना मात्र है, अपने समूह के स्वार्थों को कायम रखने के लिए अपनी स्वार्थवृत्ति को भड़काये रखने का तरीका मात्र है, जो दुनियाँ के बहुत से भाग में व्याप्त हो रहा है।

यही बात जन्म और कर्म के द्वारा अभिमान की है। जन्म से मानव की श्रेष्ठता क्या? हमारे सामने गरीब से गरीब और साधनहीन से साधनहीन लोग अपने प्रयत्न और साधनों के फलस्वरूप ऊंचे से ऊंचा स्थान प्राप्त कर लेते हैं. फिर ऊंचे से ऊंचे खानदान में नालायक लोगों को पैदा होते और उन खानदानों की प्रतिष्ठा को हम अपने सामने मिट्टी में मिलते देखते हैं। दशरथ और वसुदेव जैसे साधारण व्यक्तियों के राम और कृष्ण जैसे लोकोत्तर महामानव और फिर कबीर के कमाल, यह चक्र भी प्रत्यक्ष ही है, तब जन्म से उचाई निचाई क्या? कर्म से भी ऊँच नीच का क्या सम्बन्ध? सच्चाई, ईमानदारी, निरहंकारिता और कर्त्तव्य-पालन अध्यापक में, सैनिक में, व्यापारी में, नौकर में, हरि-

करे, विचारों को स्पष्ट रक्खे-यह अत्यन्त जरूरी है। उठने-बैठने, खाने-पीने और रहन-सहन में केवल स्वास्थ्य-रक्षा की मर्यादा के अतिरिक्त और कोई विभिन्नता और अलगाव की भावना नहीं होनी चाहिये।

हमारे देश मे जिन्हें सवर्ण हिन्दू अछूत कहते हैं उनमें भी एक जाति के मुकाबले मे दूसरी जाति के प्रति नीच ऊंच स्पर्श-अस्पर्श आदि की श्रेणियाँ पुराने जमाने से बनी हुई हैं, अछूतों मे भी आपस मे छूत-छात का भूत मौजूद है जो बिल्कुल ही हास्यास्पद है।

जिस तरह से हिन्दुस्तान मे छूआ-छूत की भावना मानवता का अपमान है, उसी तरह अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमरीका मे वर्णभेद और वर्णविद्वेष की भावना भी स्पर्श भावना या समानता की भावना के प्रतिकूल पड़ती है और स्वार्थ तथा अहकार पर आधारित है। सर्वोदय सिद्धांत और व्यवहार मे इस तरह के द्वेषपूर्ण व्यवहार और आचरण को कोई स्थान नहीं हो सकता।

इसके अलावा हमारे देश के कुछ भागों में, एशिया व अमेरिका में भी गुलामी की प्रथा अब भी परोक्षरूप में या प्रत्यक्ष रूप मे चालू है। हमारे देश में दरोगा वर्ग—बहुत कुछ इसी समूह में आता है। इस तरह के वर्ग जहाँ भी कहीं जिस

जहाँ यह विषमता सामाजिक रूप में हो, वहाँ व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तरह से उस असमानता का निराकरण किया जाना आवश्यक है और यह काम स्वयं विधेयात्मक आंदोलन करके या निषेधात्मक रूप से स्वय अपनी सुविधायें और अधिकार छोड़ कर किया जा सकता है, लेकिन सामूहिक आदोलन का मूल भी व्यक्तिगत सवेदना की तीव्रता ही है और व्यक्तिगत व्यवहार मे उसके प्रगट होने पर ही वह धीरे २ सामूहिक आंदोलन को प्रेरणा देता है।

कर सकेगा, लेकिन अगर उसके पास केवल ढाल ही हो और तलवार न हो तो वह आगे नहीं बढ़ सकेगा; एक ही जगह रुक जायगा। इस सतत् मनोवृत्तियों के संघर्ष में बचाव के लिए अपने पैरों पर खड़े रहने के लिए—खड़े रहने योग्य बने रहने के लिए अगर नम्रता की आवश्यकता है तो इस संघर्ष मे आगे बढ़ने और विजय पाने के लिए दृढ़ता भी उतनी ही जरूरी है। नम्रता की ढाल और दृढ़ता की तलवार के बिना साधक को इस संघर्ष मे फतह नहीं हो सकती।

मानव और मानवसमाज मे जो कुछ अच्छाई है, जो कुछ अपनी दृष्टि, अपना विचार और अपनी प्रेरणा है जो कुछ कार्यशक्ति है वह प्रेरक बनी रहे, वह क्षमतापूर्ण रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव क्षमता के सब से बड़े शत्रु अहंकार को जीते। अहंकार मानव की कमजोरी का स्वाभाविक रूप है। अहंकार मानव का निकटतम शत्रु है लेकिन श्रद्धा, ज्ञान और कर्म के संयोग होने पर भी अगर मानव नम्रता की साधना न करे, तो यह अहंकार उसका सर्वनाश कर ही देता है। मानव और समाज कितने ही सुदृढ़ दुर्ग में हों लेकिन उसका एक भी चोरदरवाजा खुला रह जाय या उस पर पर्याप्त पहरा न हो तो दुर्ग गया ही समझिये। इसी प्रकार मानव के चोरदरवाजों का प्रहरी विनय या नम्रता है, इसे बराबर मानव के अन्तर में जगाये ही रखना चाहिये।

और काम लादने की प्रवृत्ति को दबाये रखना उचित है, लेकिन इसका यह अर्थ करना गलत होगा कि हमारी अपनी कोई राय नहीं है, हमारा अपना कोई मार्ग नहीं है, हमारा अपना कोई आदर्श नहीं है। इसकी परवाह नहीं हम कितने साधारण हैं, कितने छोटे हैं, कितने कमजोर हैं, लेकिन व्यक्ति के रूप से और समाज के रूप से हमारी सत्ता है और हम मे असाधारण रूप से सक्षम और महान् बनने की शक्ति और इच्छा मौजूद है, और हम आगे बढ़ना चाहते हैं और बढ़ेंगे यह दृढ़ निश्चय भी हम मे होना ही चाहिये। इसके अभाव मे मानव और समाज दोनों ही गतिहीन और फलत. निर्जीव हो जायेंगे। निर्जीव मानव और समाज बिखर कर खतम हो जाता है—खतम हो जाने के अलावा और कोई कर्त्तव्य उसके सामने बचता नहीं। अत मानव में और समाज मे दोनों मे दृढता-पक्ष के संकल्प की भी नितान्त आवश्यकता है।

मानव और समाज दोनों के सामने निश्चित आदर्श हो, और उसे प्राप्त करने की दृढता हो। इस दृढ़ता से कठोरता, अहंकार और निर्ममता उत्पन्न न हो और कोमलता, उदारता परदुःखकातरता की भावनायें दब कर, कुचल कर मर न जाय इसलिये विनय का भाव हो—नम्रता और यह दृढ़ता का यह मणिकांचन योग मानव और समाज दोनों में बना रहे—यह सर्वोदय दृष्टि व्यवहार में लाने के लिये नितान्त आवश्यक है।